DEV SANSKRITI: Interdisciplinary International Journal **(2014), 4, 58-61**

योग दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुरूष, पुरूषार्थ एवं पुरूषार्थशून्यता

उर्मिला पांडे

सारांश

योग दर्शन में पुरूष तत्व केन्दीय विषय के रूप में प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि पुरूष और प्रकृति दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानी गयी है; परन्तु तात्विक रूप में पुरूष की सत्ता ही सर्वोच्च है। पुरूष के दो भेद कहे गये है, एक पुरूष विशेष पुरूष एक है– ईश्वर किन्तु सामान्य पुरूष की संख्या असंख्य कही गयी है। पुरूष को चैतन्य एवं अपरिणामी कहा गया है, किन्तु अविद्या के कारण पुरूष जड़ एवं परिणामी चित्त में स्वयं को आरोपित कर लेता है। पुरूष और चित्त के संयुक्त हो जाने पर विवके जाता रहता है और पुरूष स्वयं को चित्त रूप में अनुभव करने लगता है। यह अज्ञान ही पुरूष के समस्त दुःखों, क्लेशों का कारण हैं। योग दर्शन का उद्देश्य पुरूष को इस दुःख से, अज्ञान से मुक्त कराना है। इसी तथ्य को सैद्धान्तिक रूप से योग दर्शन में हेय, हेय–हेतु, हान और हानोपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन चार क्रमों में पुरूष दुःखों से मुक्ति पाता है, इसलिये योग में इसे चतुर्व्यूहवाद कहा गया है एवं इस चतुर्व्यूह से मुक्त होना ही योग का परम उद्देश्य है। चतुर्व्यूहवाद की विवेचना में ही योग दर्शन में पुरूष, पुरूषार्थ और पुरूषार्थ शून्यता का दर्शन प्रकट होता है। पुरूष अविद्या ग्रस्त होने पर संसार–चक्र में पड़ता है और पुरूषार्थ शून्यता की अवस्था को प्राप्त करता है। पुरूष का परम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति है। योग में पुरूष को आत्मा का पर्याय माना गया है। अतः आत्मा जो कि संख्या में असंख्य है; कि कैवल्य प्राप्ति तभी हो सकती है जब चतुर्व्यूह का पुरूषार्थ साधन कर दुःख के त्रिविध रूपों का सामाधान कर लिया जाय। दुःख के तीन रूप है – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पुरूषार्थ शून्यता इन त्रितापों से ऊपर की अवस्था है। पुरूषार्थ शून्यता के पश्चात् ही पुरूष की अपने स्वरूप की स्थिति होती है। योग दर्शन में इसे ही कैवल्य अथवा मोक्ष कहा गया है। इस शोध पत्र में योग दर्शन के अन्तर्गत अविद्यादि से उत्पन्न दुःखों से निवृत्ति साधन के रूप में वर्णित पुरूष, पुरूषार्थ और पुरूषशून्यता के सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

कूट शब्द – योग, चित्त, अविद्या, पुरूष एवं पुरूषार्थ।

योग–दर्शन का परम उद्देश्य है, साधक को चर्तुव्यूहवाद से मुक्त कराना। साधक दुख के स्वरूप को (जो कि हेय है) सुख के भ्रम (हेतु) के कारण भूल जाता है। अतः उसे आत्मानुसंधान–मार्ग (हान) की आवश्यकता होती है। इसके उपचारार्थ ही साधक जिस रूप में अविद्या ग्रस्तता के कारण, संसार–बंधन के चक्र में आया, उसी उलटे क्रम में बंधन को काँटता हुआ, निर्मल विवेक–ख्याति (हानोपाय) को प्राप्त करने वाला होता है। यह पुरूषार्थशून्यता की अवस्था कहलाती है। अतः योग दर्शन में अविद्या जन्य दुःख के चर्तुव्यूहवाद का समाधान करने हेतु पुरूष, पुरूषार्थ, पुरूषार्थशून्यता की अवधारणा प्रस्तुत हुई है। यह संसार चक्र में आबद्ध सभी आत्माओं की मुक्ति के लिए योग दर्शन द्वारा प्रर्वतित एक श्रेष्ठतम साधना मार्ग है। सैद्धान्तिक रूप से इसी का यहाँ विवेचन किया जा रहा है। योग दर्शन के चर्तुव्यूहवाद को समझने के लिए क्रमशः पुरूष, पुरूषार्थ एवं पुरूषार्थशून्यता का विवेचन किया जा रहा है।

पुरूष

क्लेश कर्म विपाकाशयै परामृष्टः पुरूष विशेष ईश्वरः (योगसूत्र– 1/24)। अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से जो रहित है, वह विशेष–पुरूष ही ईश्वर है, इसके विपरीत जो इनसे युक्त है वह सामान्य पुरूष है। अतएव विशेष पुरूष और सामान्य पुरूष के पुरूष के रूप में पुरूष तत्व के योग दर्शन में दो भेद किये गये है। विशेष पुरूष संख्या में एक –ईश्वर है तथा सामान्य पुरूष संख्या में असंख्य है। सामान्य पुरूष को ही आत्मा अथवा जीवात्मा कहा जाता है। पुरूष, ह्रष्टा, स्वामी शक्ति, आत्मा ये सभी विशेष पुरूष के ही अंशीरूपी पर्याय हैं, जो निर्विकार भाव, वृतिसारूप्यमितरत्र (योगसूत्र– 1/4)। अर्थात चित्त की वृत्तियोंनुसार प्राणियों में स्थित रहता है। विशेष पुरूष की स्थिति तभी आती है जब–योगश्चित वृत्तिनिरोधः (योगसूत्र– 1/2)। अर्थात चित्त की वृत्तियां निरूद्ध हो जाय, तब–तदा द्रष्टुस्वरूपे अवस्थानाम (योगसूत्र– 1/3)। अर्थात तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है।

तात्पर्य यह है कि वह पुरूष से विशेष पुरूष या नर से नारायण बन जाता है। परमात्मा में उसका विलय हो जाता है, अन्य पुरूषों से ईश्वर का यही भेद है। वह प्रकृति से न किसी प्रकार से बद्ध था न आगे होगा ओर न ही बंधन और मोक्ष उसके लिए हैं। इसके विपरीत अन्य सभी पुरूष या तो अभी सांसारिक है, या मुक्त होने के लिए पुरूषार्थी। वास्तविकता यह है कि पुरूष, द्रष्टा, चेतन व निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान हैं तथा सभी प्रकार के लौकिक–अलौकिक परिवर्तनों का आधारभूत तत्व है, जो अनादि एवं वर्णनातीत है। किंतु प्रकृति परिवर्तनीय विषय है। जैसे– दर्पण मैला होने के कारण स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं बना सकता, उसी तरह द्रष्टा जो कि शुद्ध है, किन्तु प्रकृति (संस्कार) से ढके होने के कारण स्पष्ट प्रतिबिंबन नहीं कर सकता है। योगारूढ़ साधक बुद्धि (प्रकृति) को नेति–नेति जानता हुआ, आगे बढ़ता है तथा प्रकृति के प्रयोजन को समझता है। पुरूष अविद्या तत्व के वशीभूत जब चित्त से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब चित्त प्रकृतिजन्य तत्वों द्वारा पंचभूतेन्द्रियादि रूप में जगत् की सृष्टि में जगत की सृष्टि करता है। प्रकृतिजन्य सृष्टि का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता; प्रत्युत यइ पुरूष के भोग अपवर्ग के लिए पुरूषार्थ में सहभागी बनती है।

योग दर्शनानुसार समस्त जीव–जगत की उत्पत्ति निम्न प्रकार है–

पुरूष–प्रकृति

विषेश परिणाम	अविषेश परिणाम	लिंग परिणाम	अलिंग परिणाम
पंच महाभूत तत्व पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन	अहंकार एवं पंच तन्मात्राएं	महत् (यह कुल 22 तत्वों से युक्त है)	मूल प्रकृति गुणों (त्रिगुण) की साम्यावस्था

इन्हीं तत्वों के आधार पर, द्रष्टा (पुरूष) एवं दृश्य (प्रकृति) के संयोग को संसार का कारक माना गया है (योगसूत्र– 2/6)। यह संयोग ही समस्त दुःखों का मूल है इसे ही क्लेश कहा गया है।

प्रकृति जिस त्रिगुण से युक्त एवं ब्रह्माड चेतना से निर्मित है उन्हीं गुणों की परिवर्तनशीलता के प्रभाव से जीवात्मा का चारित्रिक निर्माण एवं बंधन होता है। तीनों गुण के आधार पर ही व्यक्ति का व्यवहारिक व आत्मिक जीवन संचालित होता है। इन गुणों के परिणाम निष्क्रिय हो जाने अर्थात् साम्य अवस्था हो जाने पर जीवात्मा अपने स्वरूप का लाभ प्राप्त करती है। महत् तत्व जीसे बुद्धि भी कहा जाता है; का प्रतिरूप व्यक्ति में चित्त होता है, जो अन्तः करण चतुष्ट्य के रूप में जाना जाता है। पंचभूत, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन के द्वारा स्थूल शारीरिक आधार प्राप्त होता है जो कि विशेष परिणाम है। अविशेष परिणाम में पंचतन्मात्रा एवं अहंकार के द्वारा मानसिक अर्थात सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है, जिसे अस्मिता समझा जाता है। विशेष परिणाम, परिवर्तन का अहसास कराते हैं, जो सुखद–दुखद तथा भाव शून्य हो सकते हैं। अविशेष का जब रूपान्तरण होता तो अतिन्द्रिय शक्ति का विकास होता है। दूसरे अर्थ में सृष्टि का विकास यहीं से शुरू होता है, इसे ही प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है। जबकि लिंग परिणाम एवं अलिंग परिणाम का विकास निवृत्ति मार्गी होता है।

अविद्याजन्य प्रकृति के सभी परिणामों का अपने विकास क्रमानुसार उलट क्रम में अपने–अपने कारण में विलय हो जाना ही योग साधना का ही योग साधना का पुरूषार्थ दर्शन है। किंतु मनुष्य स्वयं को भोगों का कर्त्ता मानकर आत्मतत्व (पुरूष) को भूल जाता है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि बुद्धि द्वारा किये गये, ये भोग–अपवर्ग पुरूष के प्रति क्यों कहे जाते हैं? जैसे– जीत और हार योद्धाओं द्वारा होने पर भी राजा में आरोपित किया जाता है और वही फल का भोक्ता है, उसी प्रकार शरीर का स्वामी पुरूष है। अतः बंधन–मोक्ष बुद्धि में रहते हुए भी पुरूष के प्रति ही कहे जाते हैं। जब तक यह पूर्ण नहीं होता है तब तक जीवात्मा में पुरूष की संज्ञा द्रष्टा के रूप होती है और वह बद्ध है। योगसूत्र के अनुसार साधक जब तक इस सत्य को नहीं समझता या महसूस नहीं करता है कि दृक् एवं दर्शन शक्ति (पुरूष एवं प्रकृति) दोनों अभिन्न नहीं बल्कि भिन्न है, तब तक यह अस्मिता के संघर्ष में साधन का प्रयोग करता रहता है (योगसूत्र– 2/17)।

योग साधना में पुरूष साध्य तत्व है और प्रकृति साधन। दोनों की एकात्मकता का बोध बंधन है। गीता में कहा गया है कि पुरूष अपने ही प्रकृति को अंगीकार करके उत्पत्ति एवं विनाश करता है। वह साक्षी–भाव से प्राणी में स्थिति तो है, किन्तु जीवात्मा को स्वतंत्र रखता है, पुरूषार्थ के लिए। अतएवः भोग के अतिरिक्त शुद्ध 'ज्ञ' तत्व की

अनुभूति जब तक नहीं होती है। पुरूषतत्वानुभूति की आशंका ही नहीं रहती। यह पुरूष चित्ताकार स्वरूप में अपने को कर्ता एवं भोगता समझकर निरंतर अस्मीता का प्रश्रयदाता बना होता है जब तक की उसमें विवेकज्ञान का उदय न हो जाये।

इस प्रकार पुरूष या आत्म तत्व के मर्म को समझकर योग–साधक स्थिर तत्व का अभ्यास करते हैं, वही अपनी साधना व संस्कारों में गति करते हुए कैवल्य की ओर गति करते है। संसारिक दृष्टि से ऐसे संसार में रह कर भी अविद्याजन्य कर्मों में संलिप्त नहीं होते अपितु उनका एक मात्र लक्ष्य अपने भीतर स्थित पुरूष को अपने साधना प्रयासो द्वारा पुरूषार्थ मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कराना है। पुरूष का अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में जिस पुरूर्षाथ मार्ग से गुजरना पड़ता है वह निम्न है।

पुरूषार्थ

पुरूषार्थ का अर्थ है 'पुरूष के प्रति'। पुरूषार्थ की प्रक्रिया में शुभ– अशुभ कर्मजन्य तथा अविद्यादि क्लेशजन्य असंख्य वासनाएं चित्त को ही आश्रय बनाती है। अतएवः विषय एवं इन्द्रिय की सहायता से चित्त ही भोग– अपवर्ग हेतु वृत्तिरूप (निरोधात्मक) पुरूषार्थ करता है (योगसूत्र– 2/18)। पुरूषार्थ में उस अव्यक्तरूप का स्थितिकारणत्व माना जाता है। किंतु वह प्रकृति के मार्ग का अवरोधक नहीं है, बल्कि इस व्यापार में आने वाले अवरोधों का उन्मूलक है। इस उन्मूलन प्रक्रिया में धर्म, लक्षण एवं अवस्था तीन प्रकार के परिणामों से संस्कारित 'चित्त' का ही रूपान्तरण होता है (योगसूत्र– 3/13)। जैसे – मनुष्यता 'धर्म' है, इनके द्वारा बनाये गये विभिन्न सामाजिक सम्बन्ध 'लक्षण' एवं इसकी पराकाष्ठा 'अवस्था' है। इसी प्रकार धर्मतः पुरूष तथा प्रकृति का ज्ञान होना चाहिये, जिसका 'लक्षण परिणाम' है – चित्त की वृत्तियों का निरोध। अंतिम 'परिणाम अवस्था' है – प्राप्य–अप्राप्य की अवस्था, जिसमें कुछ भी पाना शेष नहीं है। अज्ञान दृष्टि से मनुष्य अपने स्व को इन्द्रिय और विषय गत वस्तुओं में खोजता है और इन असत्य वस्तुओं से प्राप्त अनुभव के आधार पर स्वयं के स्वरूप को समझता है। परन्तु जो असत वस्तु है, जिसका अस्तित्व नहीं है अथवा उसे इन्द्रियों द्वारा समझा नहीं जा सकता है। अतएवः तत्वदर्शी पुरूषार्थी में ही आत्म–दर्शन का सामर्थ्य होता है। श्रीमद्भागवत गीता (2/25) के में उल्लेख है कि जब तक इन्द्रिय एवं विषयों का संयोग है, तब तक आत्मा तो है किंतु अचिन्तय है। अतः चित्त वृत्तियों का निरोध कर समस्त कर्मों के प्रति अकर्ता भाव ग्रहण इन सभी का कारण और नियामक प्रकृति के गुणों को समझना चाहिए (श्रीमद्भागवत गीता – 3/27)। वास्तव में पुरूष कर्म से अलिप्त है संपूर्ण कर्म तो प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते है पुरूष तो मात्र कर्ताभाव ग्रहण कर गुणों द्वारा संपातिद कर्मो को स्वयं पर आरोपित कर लेता है। पुरूषार्थ में इस मिथ्या आरोपण का समाधान विवकेख्याति के द्वारा प्राप्त हो जाता है। किन्तु योग में संयमी मनुष्य ही इस मिथ्यात्व को समझ कर दृढ़ संकल्प हो कर संयम द्वारा पुरूषार्थ के पार जाता है। ऐसे साधक के लिए श्री कृष्ण कहते है जो दूसरे प्राणियों के लिए रात्रि है वह एक संयमी योगी के लिए दिन और संयमी के लिए जो रात्रि है वह दूसरों के दिन (श्रीमद्भागवत गीता – 2/69)। तात्पर्य यह है कि साधक –अन्वेषक को उसका साध्य जगाए रखता है, लेकिन असाधक को रात्रिकाल की तरह विश्राम ही दिखता है। किंतु जब असाधक उहापोह के कारण जगता रहता है तो यही प्रपंच रूपी दिन, साधकों के लिए विश्राम काल है। फिर भी सांसारिक लोगों के लिए योगसूत्र में – 'हेय दुख अनागतम'। कि भविष्य में होने वाले शोक को संकल्पपूर्वक प्रयत्न से कम किया जा सकता है, और आगे बढ़कर त्याग भी किया जा सकता है (योगसूत्र – 2/16)।

पुरूषार्थ अभ्यास एवं प्रयत्न साध्य अवश्य है, लेकिन जब सारे प्रयत्न समाप्त हो जाते है, अर्थात बिना प्रयत्न के ही साधक परमात्मा में बना रहता है तो उसके द्वारा किये गये कर्म बंधन नहीं बताते हैं और यही योगः कर्मसुकौशलम अर्थात कर्म की कुशलता है (श्रीमद्भागवत गीता– 2/50)। इसका दृढ़तापूर्वक अनुशीलन ही शास्त्र है। इसलिए शरीर जैसा क्षेत्र पाकर पुरूषार्थ की अवहेलना नहीं करना चाहिए। अतएवः समत्व योग उच्यते (श्रीमद्भागवत गीता– 2/48)। क्योंकि समस्त प्रपंच में भी जो धैर्यवान व्यक्ति व्यथित नहीं होता है, उन्हें ही अमरत्व प्राप्त होता है। इस प्रकार मन एवं प्राण द्वारा इस देह (प्रकृति) का उपयोग करने पर, सभी रूपान्तरण स्थिर हो जाते हैं तथा साधक परिवर्तन–रहित पुरूष में विश्राम करता है। आत्मानुसंधान के क्रम में प्रकृति से वही विमुक्ति प्राप्त करने की ओर बढ़ता है, जो अतरंग स्तर अर्थात चित्त परिवर्तन चाहता है। सम्प्रति पुरूषार्थ का स्वरूप प्रयत्न से निष्प्रयत्न की ओर बढ़ता है, जो चार–पुरूषार्थों – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की पूर्ति करता है।

पुरूषार्थ शून्यता

पुरूषार्थ शून्यता कैवल्यपद का प्रधान लक्ष्य है इस अवस्था में गुणों का अधिकार समाप्त हो जाता है। जहाँ पुरूष की चैतन्यता जड़गुणों के परिणामों से मुक्त हो जाती है वहीं

पुरूष के चेतना में पुरूषार्थ शून्यता की अवस्था स्थित हो जाती है। यहाँ पुरूष चेतना गुणों के पुरूषार्थ से शून्य हो जाती होकर कैवल्यपद में अर्थात् चितिशिक्त अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है (योगसूत्र – 4/34)। कार्य कारणात्मक रूप से यह प्रतिप्रसव (अर्थात विलोम क्रम से) मूल प्रकृति में ही होता है, जिससे गुणों के समस्त संस्कार व्युत्थान कालिक, समाधि कालिक एवं निरोधकालिक का चित्त में लय हो जाता है (योगसूत्र– 3/9)। अतः पुरूषार्थ शून्यता बुद्धयादि के साथ पुरूष के संबंध का आत्यांतिक अभाव है (योगसूत्र– 4/34)। श्रीमद्भागवत गीता के 18/53 श्लोक में कहा गया है– अहंकार, बलं, धैर्य, काम–क्रोध परिग्रहम विमुच्य निर्मयः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। अर्थात अहंकार, बल धैर्य, काम–क्रोध, धन–वैभव को त्याग कर, जो शांत स्वभाव वाला हो जाता है वही ब्रह्मभूय, ब्रह्म के साथ एकाकार होने योग्य है। इस प्रकार गुणों की साम्यावस्था पुरूषार्थ शून्यता है, तथा पुरूष की स्वाभाविकता या अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना 'कैवल्य' है।

निष्कर्ष

पुरूष, पुरूषार्थ एवं पुरूषार्थशून्यता की इस दार्शनिक विवेचना का उद्देश्य योग साधकों को चारों पुरूषार्थ का शास्त्र सम्मत बोध कराने के साथ ही व्यावहारिक जीवन में सावधानी एवं कुशलता पूर्वक कर्म करने तथा श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन कर अपने अभीष्ट की प्राप्ति कराना के लिए प्रेरित करना है। चूंकि योगदर्शन में हेय, हेतु, हान तथा हानोपाय के रूप में चतुर्व्यूहवाद का मूल्य अविद्या है। बौद्ध दर्शन में भी इसी तरह चार आर्यसत्यों के रूप में अविद्याजन्य दुःख की में विवेचना की गई है। योगदर्शन में प्रकृति और पुरूष को स्वतंत्र तत्व अवश्य माना गया है परन्तु चेतन तत्व एक ही है –पुरूष अतः पुरूष, पुरूषार्थ एवं पुरूषार्थ शून्यता तक जिस चेतन सत्ता की यात्रा होती है तथा जो चेतन सत्ता समस्त दुःखों का अनुभव करते हुए उनसे मुक्त होने का उपाय करती है वह दो नहीं अपितु एक ही है जिसे पुरूष अथवा आत्मा कहा गया है। यह सारा कर्म– पुरूषार्थ आत्मा की मुक्ति के सापेक्ष है।

उर्मिला पांडे, पी–एच.डी, योग प्रवक्ता, उत्तराखण्ड संस्कृत विष्वविद्यालय, हरिद्वार, भारत।

संदर्भ सूची

योगश्चित्तनिरोधः **(योगसूत्र – 1/2)**

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् **(योगसूत्र – 1/3)**

वृत्तयः पञ्चयतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः **(योगसूत्र – 1/4)**

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः **(योगसूत्र – 1/24)**

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता **(योगसूत्र – 2/6)**

हेयं दुःखमनागतम् **(योगसूत्र – 2/16)**

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः **(योगसूत्र – 2/17)**

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थ दृश्यम्। **(योगसूत्र – 2/18)**

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः **(योगसूत्र – 3/9)**

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः **(योगसूत्र – 3/13)**

हृदये चित्तसंवित् **(योगसूत्र – 4/34)**

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि **(श्रीमद्भागवत गीता – 2/25)**

योगस्थः कुरू कर्माणि संगत्यक्त्वा धनंजय। सिद्धयसिद्धियोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्चते।। **(श्रीमद्भागवत गीता – 2/48)**

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। **(श्रीमद्भागवत गीता – 2/50)**

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। **(श्रीमद्भागवत गीता – 2/69)**

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। **(श्रीमद्भागवत गीता –3/27)**

अहंकारं बलं दर्प कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्मयः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। **(श्रीमद्भागवत गीता – 18/53)**